सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

नियमसार गाथा १३७

अब इस गाथा में निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है -

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो।।१३७।।

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे रागादि के परिहार में।
वह योग भक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३७।।

जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है अथवा आत्मा में आत्मा को लगाकर रागादि का परिहार करता है; वह साधु योगभक्ति युक्त है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा योगभक्तिवाला कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह है कि उस वीतरागी मार्ग में लगे हुए साधु से अन्य कोई रागी व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का व्याख्यान है।

पूर्णत: अन्तर्मुख परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि परभावों का परिहार होने पर; जो साधु अर्थात् आसन्नभव्यजीव, निज अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप के साथ, निज कारणपरमात्मा को युक्त करता है, जोड़ता है; वह परम तपोधन ही शुद्ध निश्चय योगभक्ति से युक्त है। बाह्य प्रपंच में स्वयं को सुखी मानकर उसी में संलग्न अन्य पुरुष को योगभक्ति कैसे हो सकती है ?''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''शुद्धात्मद्रव्य के सन्मुख होकर परद्रव्य में कर्तृत्वबुद्धि एवं रागादि को छोड़कर निसन्देह ज्ञानमात्र में एकाग्र होना योग है।[१]

यहाँ शुद्ध चैतन्य के श्रद्धान-ज्ञान-एकाग्रता को भक्ति कहा है। वही आत्मयोग/

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३६

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२९

उपासना/मोक्षमार्ग है। अन्यमती ईश्वर को कर्त्ता मानकर प्राणायाम, शुभभावना, जाप, त्राटक से एकाग्रता आदि को भक्ति, योग, साधना आदि मानते हैं, जो कि वस्तुस्थिति से विपरीत है; परन्तु कुदेव-सुदेव, तत्त्व-अतत्त्व आदि का विवेक होने पर आत्मा को ज्ञानमात्र में विशेष लीनतारूप **प्रयत्न सहित चित्परिणतिरूप अखण्ड चैतन्य में जोड़ना वही सम्यक्योग है। आत्मा को आत्मा में जोड़ना योग है।** स्वसन्मुखता, योग, धर्म, भक्ति, समाधि, निर्विकल्पशांति, स्वसंवेदन, कल्याणमार्ग सभी एकार्थ वाची हैं।[२]

अशुभ से बचने के लिए देवादि के प्रति भक्त्यादि का शुभराग होता है; परन्तु वह पुण्य है, धर्म या धर्म का कारण नहीं है।

यह जीव पुण्य-पाप, व्यवहार रत्नत्रय, व्रत-अव्रत सर्वप्रकार के राग की अपेक्षा बिना **जितने अंशों में पूर्ण सिद्ध परमात्मा समान ब्रह्मानन्द चैतन्य में एकाग्र होता है, उतने अंशों में मोक्षमार्ग में योगभक्ति है –** ऐसा भगवान ने कहा है।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो साधु त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनेपन के साथ होनेवाले श्रद्धान, ज्ञान और आत्मलीनता से रागादि भावों के परिहार में संलग्न है; वही एकमात्र योगभक्तिवाला है। उससे भिन्न अन्य कोई व्यक्ति योगभक्तिवाला नहीं हो सकता।।१३७।।

इसके बाद **तथा चोक्तम्** – तथा इसीप्रकार कहा गया है – लिखकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।।६५।।

(दोहा)

निज आतम के यत्न से मनगति का संयोग।
निज आतम में होय जो वही कहावे योग।।६५।।

आत्मप्रयत्न सापेक्ष मन की विशिष्ट गति-परिणति का ब्रह्म (अपने आत्मा) में लगाना ही योग है। तात्पर्य यह है कि पर के सहयोग के बिना **मात्र स्वयं के प्रयत्न से मन का निज भगवान आत्मा में जुड़ना ही योग है।।६५।।**

इसप्रकार अन्य ग्रन्थ के उद्धरण से अपनी बात पुष्ट करके टीकाकार मुनिराज

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३९ २. वही, पृष्ठ ११४०

'तथाहि – अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं' – ऐसा लिखकर एक छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः।।२२८।।

(दोहा)

निज आतम में आतमा को जोड़े जो योगि।
योग भक्ति वाला वही मुनिवर निश्चय योगि।।२२८।।

जो मुनिराज अपने आत्मा को आत्मा में निरंतर जोड़ते हैं, युक्त करते हैं; वे मुनिराज निश्चय से योगभक्ति युक्त हैं।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''त्रिकाली ज्ञानानंदस्वरूप अनंतगुणों का पुंज वह आत्मा है, उसके आश्रयपूर्वक पर से भिन्न अन्तर्मुख परिणति वह धर्म है और उसका कारण/साधन/आधार स्वयं आत्मा ही है। उसकी सम्यक् प्रतीतिरूप योगभक्ति है।

गृहस्थों के भी इसप्रकार की योगभक्ति होती है, मुनिराजों के तो विशेष आनंद सहित लीनता होने से विशेष योगभक्ति होती है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि **यह मुक्तिप्रदाता योगभक्ति अपनी-अपनी भूमिकानुसार गृहस्थों और मुनिराजों - दोनों को ही होती है।।२२८।।** ●

नियमसार गाथा १३८

विगत गाथा के समान इस गाथा में भी निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो।।१३८।।

(हरिगीत)

जो साधु आतम लगावे सब विकल्पों के नाश में।
वह योगभक्ति युक्त हैं यह अन्य को होवे नहीं।।१३८।।

जो साधु अर्थात् आसन्नभव्यजीव सभी विकल्पों के अभाव में अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही लगाता है अथवा अपने आत्मा में आत्मा को जोड़कर सभी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४१

विकल्पों का अभाव करता है; वह आसन्नभव्य जीव योगभक्तिवाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ भी विगत गाथा के समान निश्चय योगभक्ति का स्वरूप कहा है।

अति-अपूर्व शुद्ध रत्नत्रयात्मक निज चिद्विलासलक्षण निर्विकल्प परमसमाधि द्वारा, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि अनेक विकल्पों का अभाव होने पर, परम समरसीभाव के साथ, सम्पूर्णत: अंतर्मुख निज कारण समयसारस्वरूप को जो अति-आसन्नभव्यजीव सदा जोड़ता ही है; उसे ही वस्तुत: निश्चय योगभक्ति है; अन्यों को नहीं।''

१३७ व १३८वीं गाथा में **साहू** पद का प्रयोग है; उसका अर्थ टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आसन्नभव्यजीव करते हैं।

दूसरी बात यह है कि ये दोनों गाथाएँ लगभग एक समान ही हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि १३७वीं गाथा में समागत **रागादी परिहारे** पद के स्थान पर १३८वीं गाथा में **सव्ववियप्पाभावे** पद दे दिया गया है। **तात्पर्य यह है कि १३७वीं गाथा में आत्मा के आश्रय से रागादि का परिहार करनेवाले को योगभक्तिवाला कहा है और १३८वीं गाथा में सभी प्रकार के विकल्पों के अभाववाले को योगभक्तिवाला कहा है।।१३८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम्।।२२९।।

(दोहा)

आत्मलब्धि रूपा मुकति योगभक्ति से होय।
योगभक्ति सर्वोत्तमा भेदाभावे होय।।२२९।।

यह अनुत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगभक्ति भेद के अभाव होने पर ही होती है। इस योगभक्ति द्वारा मुनिराजों को आत्मलब्धिरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भेद का अर्थ विकल्प भी होता है। यही कारण है कि गाथा में जहाँ सर्वविकल्पों के अभाव की बात कही है; वही इस कलश में भेद के अभाव की बात की है।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के भेद-प्रभेद संबंधी विकल्पों के अभाव में होनेवाली निर्विकल्प भक्ति ही निश्चययोग भक्ति है।

यह निश्चय योगभक्ति मुक्ति का कारण है; क्योंकि यह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप है, शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणतिरूप है।।२२९।। ●

नियमसार गाथा १३९

अब इस गाथा में परमयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है -

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।१३९।।

(हरिगीत)

जिनवर कथित तत्त्वार्थ में निज आतमा को जोड़ना।
ही योग है यह जान लो विपरीत आग्रह छोड़कर।।१३९।।

विपरीताभिनिवेश को छोड़कर जो पुरुष जैनकथित तत्त्वों में अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव योग है।

उक्त गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ समस्त गुणों को धारण करनेवाले गणधरदेव आदि मुनिवरों द्वारा कथित तत्त्वों में विपरीत मान्यता रहित आत्मा का परिणाम ही निश्चय परमयोग कहा गया है।

अन्यमतमान्य तीर्थंकरों द्वारा कहे गये विपरीत पदार्थ में दुराग्रह ही विपरीत अभिनिवेश है। उसे छोड़कर जैनों द्वारा कहे गये तत्त्व ही निश्चय-व्यवहार से जानने योग्य हैं।

तीर्थंकर अरहंतों के चरणकमल के सेवक जैन हैं। उनमें मुख्य गणधर देव हैं। उन गणधरदेवादि के द्वारा कहे गये सभी जीवादि तत्त्वों में जो जिन योगीश्वर अपने आत्मा को लगाता है; उसका वह निजभाव ही परमयोग है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''इस जीव की जिसमें रुचि होती है, यह जीव उसी का आदर करता है, अन्य का नहीं। इसीप्रकार जिसने मिथ्यात्वपोषक कुदेवादि का आदर करना छोड़कर सच्चे देवादि तथा सर्वज्ञकथित तत्त्वों का निर्णय किया है, जिसे ऐसे शुद्धात्मा की रुचि है, वह जीव सर्वज्ञस्वभाव के समीप होने से/वीतराग दृष्टिवान हुआ होने से ज्ञानयोग सहित शुद्धात्म-भक्तियोग सहित है।

पुण्य-पापोदयजनित संयोगों में जिसकी रुचि है, उसे किसी भी प्रकार

योग नहीं होता।[१]

त्रिकाली शुद्धतत्त्व और पर्याय में विकार-अविकार का भेद सर्वज्ञ कथित आगम के द्वारा जानना चाहिए। एकान्तशुद्ध ही माने और पर्याय में विद्यमान विकार को जाने ही नहीं तो वह एकान्त निश्चयाभासी है और जो अकेले व्यवहार के अवलम्बन में ही धर्म मानता है, निश्चय स्वभाव को अंगीकार नहीं करता, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।[२]

नवतत्त्वों को जानकर और शुद्ध जीवतत्त्व ही को आदरणीय मानकर उसका निःशंकपने आश्रय करते ही संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है और पुण्य-पाप आदि व्यवहार का अभाव हो जाता है। इसे ही नवतत्त्वों में साररूप शुद्धात्मतत्त्व में आत्मा को जोड़ा कहा जाता है। स्वभाव में एकाग्रता द्वारा मिथ्यात्व आदि आस्रवों के अभावपूर्वक संवर-निर्जरारूप शुद्धपर्याय प्रगट होती है - इसप्रकार भव्यजीव पुण्य-पापरूप आस्रव-बंध से भिन्न स्व में एकाग्र हो जाता है। ऐसे स्वरूपलीन जीव को नवतत्त्वों का यथार्थ जाननेवाला कहा जाता है तथा इसी का नाम सच्चा योग है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा के सन्मुख होने पर नवतत्त्वों का यथार्थज्ञान होता है। इसके बिना ध्यानादि करना सब मिथ्या है, क्योंकि वीतरागकथित वस्तु के भान बिना सच्चा ध्यान, योग नहीं होता।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो विपरीताभिनिवेश अर्थात् उल्टी मान्यता से रहित, जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में निज भगवान आत्मा को लगाता है; उसके उस भाव को योग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि **जिनवरकथित तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व जो अपना आत्मा; उसमें अपने श्रद्धा, ज्ञान और आचरण का समर्पण ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वस्तुतः योग है।** अन्य देहादि की क्रियाओं के परमार्थ योग का कोई सम्बन्ध नहीं है।।१३९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः।।२३०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४३ २. वही, पृष्ठ ११४५ ३. वही, पृष्ठ ११४५-११४६

(दोहा)

छोड़ दुराग्रह जैन मुनि मुख से निकले तत्त्व।
में जोड़े निजभाव तो वही भाव है योग।।२३०।।

उक्त विपरीताभिनिवेशरूप दुराग्रह को छोड़कर जैन मुनीश्वरों के मुखारविन्द से निकले भव्यजनों के भवों का घात (अभाव) करनेवाले तत्त्वों में जो जैन मुनीश्वर निजभाव को साक्षात् लगाते हैं; उनका वह निजभाव योग है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''सर्वज्ञ भगवान के अलावा अन्य मिथ्यादृष्टियों द्वारा कहे हुए कुतत्त्वों को मानना दुराग्रह है। जैनधर्म के नाम पर भी कल्पित मतों द्वारा कहे हुए तत्त्वों को मानना दुराग्रह है। इसलिए कल्पित मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर दिगम्बर मुनिनाथ सर्वज्ञदेव/गणधर देव द्वारा कथित तत्त्वों की पहिचान ही भव का नाश करनेवाली है।

जो जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान में स्वसन्मुख होकर, अपने में निजभाव को साक्षात् जोड़ता है, उसका यह निजभाव ही योग है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है।

'जैन' यह कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि त्रिकाल अबाधित वस्तुस्थिति है। सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है - ऐसा अपने को अपने ज्ञान द्वारा ही सचोट भासित होना चाहिये। निर्णीत तत्त्वों के ज्ञान बिना सामायिक, भक्ति, योग आदि एक भी धर्मक्रिया व्यवहार से भी यथार्थ नहीं होती।[१]''

इस छन्द में भी गाथा और टीका में समागत भाव को ही दुहराया गया है। कहा गया है कि उल्टी मान्यतारूप दुराग्रह को छोड़कर जिनवर कथित, गणधरदेव द्वारा निरूपित, आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध, उपाध्यायों द्वारा पढ़ाया गया, मुनिराजों द्वारा जीवन में उतारा गया तथा ज्ञानी श्रावकों द्वारा समझा-समझाया गया एवं **भव्यजीवों के आगामी भवों का अभाव करनेवाला यह तत्त्वज्ञान ही परम शरण है। इसमें लगा उपयोग ही योग है।**

अतः हम सभी को जिनवाणी का गहराई से अध्ययन कर, उसके मर्म को ज्ञानीजनों से समझ कर, अपने उपयोग को निज भगवान आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लगाना चाहिए। सुख व शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२३०।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४६-११४७

नियमसार गाथा १४०

परमभक्ति अधिकार की इस अन्तिम गाथा में यह बताया जा रहा है कि ऋषभादि सभी जिनेश्वर इस योगभक्ति के प्रभाव से मुक्तिसुख को प्राप्त हुए हैं। अत: हमें भी इसी मार्ग में लगना चाहिए।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं।।१४०।।

(हरिगीत)

वृषभादि जिनवरदेव ने पाया परम निर्वाण सुख।
इस योगभक्ति से अतः इस भक्ति को धारण करो।।१४०।।

ऋषभादि जिनेश्वर इस उत्तम योगभक्ति करके निर्वृत्ति सुख को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी इस उत्तम योगभक्ति को धारण करो।

टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह भक्ति अधिकार के उपसंहार का कथन है।

इस भारतवर्ष में पहले राजा नाभिराज के पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक के चौबीसों तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ-वीतरागी हुए हैं।

जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैली हुई है – ऐसे ये महादेवाधिदेव परमेश्वर – सभी तीर्थंकर यथोक्त प्रकार से निज आत्मा के साथ संबंध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योग की उत्कृष्ट भक्ति करके मुक्त हुए हैं और वहाँ मुक्ति में परम निर्वाणरूपी वधू के अति पुष्ट स्तन के गाढ़ आलिंगन से सर्व आत्मप्रदेश में अत्यन्त आनन्दरूपी परमामृत के पूर से परिपुष्ट हुए हैं।

इसलिए हे प्रगट भव्यत्व गुणवाले महाजनो ! तुम निज आत्मा को परम वीतरागी सुख देनेवाली इस योगभक्ति को निर्मल भाव से करो।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आचार्य कुन्दकुन्ददेव तीर्थंकरों की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि अहो! जिसप्रकार जगतगुरु तीर्थंकर भगवान ने शुद्धात्मा के दर्शन-ज्ञान-रमणता द्वारा उत्तम योगभक्ति से मुक्तिसुख पाया है; उसीप्रकार तू भी पुण्य-पापरूप पराश्रय एवं दु:खमय संसार की प्रवृत्ति से छूटकर असंग-अराग स्वरूप में ठहरकर अविनाशी निर्वृत्ति सुख को प्राप्त

कर, उसी रीति को जानकर तू भी ऐसी उत्तम योगभक्ति को धारण कर![1]

यह भक्ति निजात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली है। पुण्यादि व्यवहार, राग, तीर्थक्षेत्रादि संयोग के साथ सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है।

ऐसी शुद्धरत्नत्रयरूप योग की उत्तमभक्ति करने से परमनिर्वृत्तिरूपी वधू के अतिपुष्ट परिणमन में ऐसी गाढ़ एकाग्रता प्रगट होती है कि फिर उसका कभी विरह नहीं होता। असंख्य आत्मप्रदेशों में अत्यन्त आनन्दरूपी सुधारस के समूह से सिद्ध भगवंत परितृप्त हुए हैं।

उन्होंने अक्षय-अनंत निजानंद सरोवर में से शांतरस के समूहरूप मोक्षदशा अर्थात् पूर्ण पवित्र परिणति के अनुपम सुख को पाया है।

निज शुद्धात्ममहिमा धारक हे भव्यजीव! तुम भी निजात्मा को परम वीतरागी सुख की दाता – ऐसी अंतरंग में निर्मल एकाग्रतारूप योग की भक्ति करो। अनादिकाल से आज तक हुए अनंत तीर्थंकरों ने भी ऐसी ही भक्ति की है, वे धन्य हैं।[2]''

परमभक्ति अधिकार के उपसंहार की इस गाथा और उसकी टीका में भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी का उदाहरण देते हुए यह कहा है कि जिसप्रकार ऋषभादि से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने निश्चयरत्नत्रय रूप इस परम योगभक्ति से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त किया है; उसीप्रकार हम सब भी इस योगभक्ति को धारण कर अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने का अभूतपूर्व पुरुषार्थ करें।।१४०।।

उपसंहार की इस गाथा के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव सात छन्द लिखते हैं; जिसमें से पहला छन्द इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान् ।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहते:
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ।।२३१।।

(वीरछन्द)

शुद्धपरिणति गुणगुरुओं की अद्भुत अनुपम अति निर्मल।
तीन लोक में फैल रही है जिनकी अनुपम कीर्ति धवल।।
इन्द्रमुकुटमणियों से पूजित जिनके पावन चरणाम्बुज।
उन ऋषभादि परम गुरुओं को वंदन बारंबार सहज।।२३१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११४८-४९ २. वही, पृष्ठ ११४९

गुणों में बड़े, तीन लोक की पुण्य राशि, देवेन्द्रों के मुकुटों की किनारी में जड़ित प्रकाशमान मणियों की पंक्ति से पूजित, शचि आदि इन्द्राणियों के साथ इन्द्र द्वारा किये जानेवाले नृत्य, गान तथा आनन्द से शोभित तथा शोभा और कीर्ति के स्वामी राजा नाभिराय के पुत्र आदिनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों जिनवरों की मैं स्तुति करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ वृषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकरों के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि वे गुणों में महान हैं, त्रिलोकवर्ती उत्तम पुण्य परमाणु उनके शरीर में एकत्रित हो गये हैं।[१]

तीर्थंकरदेव का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि जिनके चरणों में सदा इन्द्र नमन करते हैं। जो देवेन्द्रों के मुकुटों द्वारा पूजे जाते हैं। - ऐसे तीर्थंकरों की देह भी परमशांत, शीतल, स्थिर आनंदरूप है। जो सर्व-समाधानरूप सुख में नित्य तृप्त है। भव्यजीव जिनके दर्शन मात्र से अपने को धन्य अनुभव करते हैं।[२]

जिसप्रकार बालक बिना संकोच के नाचता-गाता है। उसीप्रकार इन्द्रादि भी बिना संकोच के हर्ष विभोर होकर नाचते हैं। अन्तर में उमंगपूर्वक उछल-उछलकर चिदानंदघनस्वरूप वीतरागी शांत जिनबिम्ब की महिमा चित्त में ला-लाकर कहते हैं कि 'अहो धन्य है वीतरागता'- इसप्रकार वे सदा भक्तिरस में उत्साहवान होते रहते हैं। यह व्यवहार भक्ति है। ऐसे धर्मात्मा जीव के इसप्रकार व्यवहार भक्ति के साथ ही सर्व प्रकार के राग का निषेध करनेवाली ज्ञातास्वरूप में एकाग्रतारूप निश्चयभक्ति होती है।[३]''

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति वाचक इस छन्द में उन्हें गुणों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, सर्वाधिक पुण्यशाली कहा गया है। इन्द्र लोग जब उनके चरणों में नमस्कार करते हैं, तब उनके मुकुटों में लगी मणियाँ भी उनके चरणों के स्पर्श का लाभ ले लेती हैं। इन्द्रों की इस भक्ति मुद्रा का वर्णन अनेक भक्ति रचनाओं में विविध प्रकार से हुआ है।।२३१।।

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है -

(आर्या)

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति।।२३२।।
अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम्।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम्।।२३३।।

(वीरछन्द)

ऋषभदेव से महावीर तक इसी मार्ग से मुक्त हुए।
इसी विधि से योगभक्ति कर शिवरमणी सुख प्राप्त किये।।२३२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५० २. वही, पृष्ठ ११५०-११५१ ३. वही, पृष्ठ ११५१

(दोहा)

मैं भी शिवसुख के लिए योगभक्ति अपनाऊँ।
भव भय से हे भव्यजन इसको ही अपनाओ।।२३३।।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर भगवान तक के सभी तीर्थंकर जिनेश्वर भी इसी मार्ग से योगभक्ति करके मुक्तिरूपी वधू के सुख को प्राप्त हुए हैं।

मुक्ति सुख की प्राप्ति हेतु मैं भी शुद्धयोग की उत्तम भक्ति करता हूँ। संसार दु:ख के भयंकर भय से सभी जीव उक्त उत्तम भक्ति करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''उस भक्तिसुख की सिद्धि के अर्थ मैं भी शुद्धयोग की भक्ति करता हूँ। हे जगत के भव्यजीवो! यदि तुम्हें घोर-अपार संसार भ्रमण का भय हो, तो तुम भी नित्यशरणरूप निर्भय निज परमपद की प्राप्ति के लिए उस उत्तमभक्ति की निरन्तर उपासना करो, उसका सेवन करो।[१]''

इन छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि ऋषभादि तीर्थंकरों ने इसी मार्ग से मुक्तिसुख को प्राप्त किया है; मैं भी इसी मार्ग पर जाता हूँ और आप सब भी इसी योगभक्ति के मार्ग पर चलो।।२३२-२३३।।

इसके बाद के चौथे छन्द में टीकाकार मुनिराज परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त करते हैं। छन्द मूलत: इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थित:।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरो: सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीने परब्रह्मणि।।२३४।।

(वीरछन्द)

गुरुदेव की सत्संगति से सुखकर निर्मल धर्म अजोड़।
पाकर मैं निर्मोह हुआ हूँ राग-द्वेष परिणति को छोड़।।
शुद्धध्यान द्वारा मैं निज को ज्ञानानन्द तत्त्व में जोड़।
परमब्रह्म निज परमातम में लीन हो रहा हूँ बेजोड़।।२३४।।

गुरुदेव के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके ज्ञान द्वारा मोह की

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५३

समस्त महिमा नष्ट की है जिसने - ऐसा मैं अब राग-द्वेष की परम्परारूप से परिणत चित्त को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्त किये हुए चित्त से आनन्दस्वरूप तत्त्व में स्थिर रहता हुआ परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''उस भक्तिसुख की सिद्धि के अर्थ मैं भी शुद्धयोग की भक्ति करता हूँ। हे जगत के भव्यजीवो! यदि तुम्हें घोर-अपार संसार भ्रमण का भय हो, तो तुम भी नित्यशरणरूप निर्भय निज परमपद की प्राप्ति के लिए उस उत्तमभक्ति की निरन्तर उपासना करो, उसका सेवन करो।[१]

परम वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान द्वारा मैंने मोह की समस्त महिमा को (व्यवहार पराश्रय की रुचि को) नष्ट कर दिया है। और अब मन की चंचलता को छोड़कर शुद्धध्यान द्वारा एकाग्र शान्तचित्त से ज्ञानानन्द परिणति को ग्रहण करता हूँ। **नित्यानन्द स्वरूप सहजज्ञान में रहता हुआ निज परमब्रह्म परमात्मा में लीन होता हूँ। इसी का नाम सम्यक् योगभक्ति है।**[२]

निश्चय आत्मभक्ति ही मोक्ष का कारण है। पर की भक्ति तो शुभराग की कारण है - आस्रव की कारण है; भले ही वह वीतरागी भगवान की ही क्यों न हो। निर्विकल्प ज्ञानानन्द में एकतारूप भक्ति द्वारा संसार निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। इसलिए हे भव्य! सर्वप्रथम ऐसी श्रद्धा तो कर कि सर्व जीवों के लिए तीनों काल यह एक ही सत्य मार्ग उपादेय है।

धर्मस्वरूप भक्ति निश्चयभक्ति है और पुण्यरूप भक्ति व्यवहार भक्ति है।[३]''

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव परमब्रह्म में लीन होने की भावना व्यक्त कर रहे हैं। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि मुझे यह सर्वोत्कृष्ट परम धर्म पूज्य गुरुदेव के सत्समागम से प्राप्त हुआ, उनके सान्निध्य में रहने से प्राप्त हुआ है। जिनागम का मर्म उनसे समझ कर जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है और जिसे मैंने अपने अनुभव से प्रमाणित किया है; उस ज्ञान के प्रताप से मेरा दर्शनमोह तो नष्ट हो ही गया है, चारित्रमोह की महिमा भी जाती रही; अत: अब मैं राग-द्वेष के पूर्णत: अभाव के लिए शुद्धध्यान द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व में स्थिर होता हूँ, परमब्रह्म में लीन होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि तुम भी **यदि मोह का नाश करना चाहते हो, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियानन्द को प्राप्त करना चाहते हो तो परमब्रह्म में लीन होने का प्रयास करो।** सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५३ २. वही, पृष्ठ ११५३-११५४ ३. वही, पृष्ठ ११५४

उपाय है।।२३४।।

इसके बाद आनेवाले पाँचवें व छठवें छन्द इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम्।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम्।।२३५।।
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे।।२३६।।

(दोहा)

इन्द्रिय लोलुप जो नहीं तत्त्वलोलुपी चित्त।
उनको परमानन्दमय प्रगटे उत्तम तत्त्व।।२३५।।
अति अपूर्व आतमजनित सुख का करें प्रयत्न।
वे यति जीवन्मुक्त हैं अन्य न पावे सत्य।।२३६।।

इन्द्रिय लोलुपता से निवृत्त तत्त्व लोलुपी जीवों को सुन्दर आनन्द झरता हुआ उत्तम तत्त्व प्रगट होता है।

अति अपूर्व निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिए जो यति यत्न करते हैं; वे वस्तुत: जीवन्मुक्त होते हैं, अन्य नहीं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''कुदेवादि के प्रति रागभाव एवं हिंसादि अव्रतादिक के प्रति रागभाव पाप लोलुपतामय संसारप्रवृत्ति है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति आदि का रागभाव पुण्य लोलुपतामय संसारप्रवृत्ति है।

इसप्रकार की इन्द्रियलोलुपता रहित यथार्थ तत्त्वज्ञान के लिये अत्यन्त उत्सुकतारूप-रुचिरूप जिसका चित्त है, उसके निज शुद्धात्मा में से सुन्दर अतीन्द्रिय आनन्ददायक उत्तम तत्त्वज्ञान प्रकट होता है। आनन्द का झरना बहता है।[१]

निर्मल सत्य निरंजन स्वभाव की ओर झुकाव होना धर्म है और पराश्रयवृत्तिरूप शुभाशुभ भाव अधर्म है। इसप्रकार यह दो तथ्य एकदम भिन्न-भिन्न हैं।

इस श्लोक में इन्द्रियलोलुपता को छोड़कर तत्त्वज्ञान के प्रति लोलुपी/उत्सुक/रुचिवान होने की प्रेरणा दी गई है।[२]

पुण्यादि पराश्रयभाव की रुचि के अभावपूर्वक मात्र ज्ञानानन्द में गाढ़ भक्ति/एकाग्रतारूप भावना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५५ २. वही, पृष्ठ ११५५ ३. वही, पृष्ठ ११५३-५६

पुण्यास्रव संसार है और अति-अपूर्व अतीन्द्रिय आत्माश्रित निश्चय नय का विषयभूत परमपारिणामिकभाव धर्म है। उसके द्वारा अन्तरंग चैतन्यमात्र ज्ञातास्वरूप में जागृतिरूप यत्न करना चाहिये। वास्तव में जीव इसी से जीवनमुक्त और शिवसुखरूप होता है, अन्य से नहीं।[४]''

इन छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कह दी गई है कि तत्त्व-लोलुपी जीवों को पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता नहीं होती, पुण्य-पाप के स्वाद की लोलुपता नहीं होती। यही कारण है कि पंचेन्द्रिय विषयों की लोलुपता से दूर तत्त्वलोलुपी जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए जो जीव अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं; वे जीव पुण्य-पाप कर्म और उनके फल में प्राप्त होनेवाले विषयभोग तथा शुभाशुभभावरूप लोलुपता से दूर रह **दृष्टि के विषयभूत ध्यान के एकमात्र ध्येय परमशुद्धनिश्चयनय के प्रतिपाद्य त्रिकाली ध्रुव निज आत्मतत्त्व के लोलुपी बनें, रुचिवन्त बनें, उसी में जमें-रमें;** क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द उसके आश्रय से ही प्रगट होता है।।२३५-२३६।।

इसके बाद समागत सातवाँ छन्द इस अधिकार का अन्तिम छन्द है; जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम्।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य।।२३७।।

(हरिगीत)

अद्वन्द्व में है निष्ट एवं अनघ जो दिव्यातमा।
मैं एक उसकी भावना संभावना करता सदा।।
मैं मुक्ति का चाहक तथा हूँ निष्पृही भवसुखों से।
है क्या प्रयोजन अब मुझे इन परपदार्थ समूह से।।२३७।।

जो परमात्मतत्त्व पुण्य-पाप अघ से रहित अनघ है और राग-द्वेषरूप द्वन्द में स्थित नहीं है; उस केवल एक की मैं बारंबार संभावना करता हूँ, भावना करता हूँ। संसार सुख से पूर्णतः निस्पृह और मोक्ष की स्पृहावाले मुझ मुमुक्षु के लिए इस लोक में अन्य पदार्थों के समूहों से क्या फल है, क्या लेना-देना है; वे तो मेरे लिए निष्फल ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५६

''जो परमात्मतत्त्व पुण्य-पाप व्यवहार के द्वन्द में नहीं रहता और निर्मल निरूपाधिक आत्मश्रद्धा-ज्ञान-रमणता से साध्य है। उस केवल एक की ही मैं बारम्बार सम्यक् भावना भाता हूँ।

भवसुख से निस्पृह - ऐसा मैं निर्मल ज्ञानघन में स्थिति द्वारा मुक्ति के लगाव वाला हूँ। अनित्य-अशुचि - ऐसे पुण्य-पापादि पदार्थसमूह से मुझे क्या काम?[१]

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महाननिर्ग्रन्थ सन्त ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी आत्मध्यान में मग्न और महावैराग्यवन्त सन्त थे। जिनके वस्त्रादि से रहित देहमात्र परिग्रह था। जो इन्द्रिय-विषय वृत्ति व प्रवृत्ति रहित अतीन्द्रिय आत्मशान्ति के विस्तार में स्थित थे। - ऐसे परम वीतरागी सन्त ने सनातन मार्ग में यथार्थ भक्ति का वर्णन - इस दसवें परमभक्त्यधिकार में किया है और लोक में जो भक्ति योग के बारे में विपरीतता चलती है, उसका निषेध किया है।[२]''

उपसंहार की इस अन्तिम गाथा में उस भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है; जो पुण्य-पाप के भावरूप अघ से रहित अनघ है और सभीप्रकार के द्वन्दों से रहित अद्वन्दनिष्ठ है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं भी उसी अनघ अद्वन्दनिष्ठ आत्मा की संभावना कर रहा हूँ, उसी की शरण में जा रहा हूँ और आप सभी भव्यात्माओं से अनुरोध करता हूँ कि आप सब भी उसी की शरण में जावें; क्योंकि **जो लोग संसार सुखों से निस्पृही हैं और सच्चे अर्थों में मुमुक्षु हैं; उन्हें मुक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ से क्या प्रयोजन है ?**

इसप्रकार हम देखते हैं कि परमभक्ति अधिकार में यही कहा गया है कि निज भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और लीनतारूप निश्चय-रत्नत्रय ही परमभक्ति है, निश्चयभक्ति है, निवृत्तिभक्ति है।

यद्यपि व्यवहारनय से मुक्तिगत सिद्धभगवन्तों की गुणभेदरूप भक्ति को भी परमभक्ति कहा गया है; तथापि मुक्ति की प्राप्ति तो अपने आत्मा को निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में स्थापित करनेवाले को ही प्राप्त होती है।।२३७।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य के समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमभक्ति अधिकार नामक दसवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११५६-११५७ २. वही, पृष्ठ ११५७